■ मुद्दा

जातिगत अपमान व उत्पीड़न के नाश के लिए एक क्रान्तिकारी सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन की जरूरत

अरविन्द सिंह

अगस्त माह के आखिरी हफ्ते में दक्षिण अफ्रीका के डरबन शहर में संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में नस्ली भेदभाव के खिलाफ एक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन हुआ। भारत में मौजूद जातिगत भेदभाव व उत्पीड़न को इस सम्मेलन के एजेण्डे में शामिल करने की मांग को लेकर राजधानी दिल्ली के कुछ प्रगतिशील बुद्धिजीवियों ने एक मुहिम चलायी। मकसद शासक वर्गों पर दबाव बनाना था जिससे भारतीय प्रतिनिधि सम्मेलन में यह मुद्दा उठायें। पत्र-पत्रिकाओं में इस पर भी काफी चर्चा हुई कि जातिगत भेद को नस्लभेद माना जाये या नहीं।

जहां तक डरबन सम्मेलन में जाति के मुद्दे को उठाने या न उठाने का सवाल है इसका इस बहस से कोई रिश्ता नहीं बनता कि जातिगत भेद को नस्ली भेद माना जाये या नहीं। हालांकि इस पर जयोति बा फुले और डा. अम्बेडकर के विचारों में भी समानता नहीं थी। फुले जातिगत भेद को नस्ली भेद मानते थे। उनका मानना था कि आर्य और अनार्य दो अलग नस्ले हैं। जबकि डा. अम्बेडकर का मत इसके विपरीत था। अनेक इतिहासकारों ने भी इस प्रश्न पर अपने विचार प्रकट किये हैं। स्वतंत्र रूप से यह एक बहस का मुद्दा हो सकता है लेकिन डरबन सम्मेलन में जातिगत भेदभाव और उत्पीड़न के प्रश्न को शामिल करने की बुद्धिजीवियों की मांग कतई गैरवाजिब मांग नहीं थी। क्योंकि, नस्ली श्रेष्ठता का जो अहम्मन्यतापूर्ण श्रेष्ठताबोध नस्ली भेदभाव के मूल में है, वही श्रेष्ठताबोध जातिगत भेदभाव के मूल में भी है। वही जियनवाद का भी मूल है और यही बुनियादी चीज इस प्रकार के अन्य सभी भेदभावमूलक सामाजिक मूल्यों, मान्यताओं, संस्थाओं आदि में मौजूद है।

एक अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता है कि क्यों बुद्धिजीवियों की मांग निहायत वाजिब थी। भारत में जातिगत भेदभाव और उत्पीड़न की शिकार आबादी की संख्या दुनिया के किसी भी हिस्से में नस्ली भेदभाव व उत्पीड़न या अन्य किसी भी प्रकार के सामाजिक भेदभाव व उत्पीड़न या अन्य किसी भी प्रकार के सामाजिक भेदभाव या उत्पीड़न के शिकार लोगों से – दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद की शिकार अश्वेत आबादी, अमेरिका में अश्वेत या रेड इंडियन, चिकानो, मुलाटो आबादी से बहुत अधिक है।

शहीदे आज़म के जन्मदिवस (27 सितम्बर) के अवसर पर

"... अ छ ू त कहलाने वाले असली जनसेवकों तथा भाइयो उठो! ... संगठनबद्ध हो अपने पैरों पर खड़े होकर पूरे समाज को चुनौती दे दो। तब देखना, कोई भी तुम्हें तुम्हारे अधिकार देने से इन्कार करने की जुर्रत न कर सकेगा। तुम दूसरों की खुराक मत बनो। दूसरों के मुंह की आरे न ताको। लेकिन ध्यान रहे, नौकरशाही के झांसे में मत पड़ना। यह तुम्हारी कोई सहायता नहीं करना चाहती, बल्कि तुम्हें अपना मोहरा बनाना चाहती है।... उसकी चालो से बचना। ... तुम असली सर्वहारा हो। ... संगठनबद्ध हो जाओ। ... उठो और वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध बगावत खड़ी कर दो। धीरे-धीरे होने वाले सुधारों से कुछ नहीं बन सकेगा। सामाजिक आन्दोलन से क्रान्ति के लिए कमर कस लो। तुम ही तो देश का मुख्य आधर हो, वास्तविक शक्ति हो, सोये हुए शेरो! उठो, और बगावत खड़ी कर दो।"

(-भगतसिंह, अछूत समस्या, यह लेख जून, 1928 में 'किरती' में 'विद्रोही' नाम से प्रकाशित हुआ था)

लेकिन डरबन में भारत सरकार के प्रतिनिधियों ने यह मांग नहीं उठायी। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। समाज में मौजूद हर प्रकार के सामाजिक- धार्मिक विभेदों को, हर प्रकार के प्रगतिविरोधी-मानवताविरोधी मूल्यों-मान्यताओं, विचारों और संस्कृति को व्यवस्था की हिफाजत के लिए हर सम्भव तरीकों से इस्तेमाल करने की कोशिशों में निरन्तर जुटे रहने वाले शासक वर्गों के प्रतिनिधियों से इसकी उम्मीद भी भला क्यों हो? संघ परिवार के वफादार स्वयंसेवक अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार ने तो इस मांग को "राष्ट्रविरोधी" तक कह डाला। कोई इन "राष्ट्रवादियों" से पूछे कि अगर यह "घर का मामला" है तो इन्होंने इसके समाधान के लिए अब तक क्या किया? ये तो इन बर्बर-अमानवीय भेदभाव को जड़ से उखाड़ फेंकने के बजाय 'सामाजिक समरसता' की दुहाई देकर इसे बरकरार रखने की ही प्रच्छन्न वकालत करते रहे हैं।

बहरहाल, डरबन सम्मेलन अब सम्पन्न हो चुका है। यूं भी यह प्रश्न उठाया जाये या नहीं, इससे भी बुनियादी प्रश्न यह है कि इसके समाधान के लिए एक जबर्दस्त सामाजिक आन्दोलन संगठित करने की दिशा में क्या किया जा रहा है या क्या किया जाना चाहिए?

एक वीभत्स, कुरूपतम, जटिल-ऐतिहासिक प्रश्न

यह तो निर्विवाद है कि भारतीय समाज के इस वीभत्स, कुरूपतम जटिल-ऐतिहासिक प्रश्न को हल करने के लिए एक जबर्दस्त सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन की दरकार है। महज कुछ रस्मी कार्रवाइयों, निठल्ले अकादमिक विमर्शों, शासक वर्गों को प्रतिवेदन भेजने या कानूनी-संवैधानिक उपायों से इसे कतई हल नहीं किया जा सकता। सहस्राब्दियों पुराना यह प्रश्न समय बीतने के साथ अधिकाधिक जटिल होता हुआ अपने जटिलतम और संश्लिष्टतम रूप में आज हमारी आंखों में घूर रहा है।

न केवल एक भेदभावमूलक सामाजिक संस्था के रूप में जाति का प्रश्न हमारे समाज में मौजूद है, बल्कि दैनन्दिन आचार-व्यवहार, बोली-भाषा-मुहावरे, मूल्यों-मान्यताओं-संस्कारों आदि के रूप में सामाजिक जीवन में यह इतने बारीक रूप में, गहराई और व्यापकता में, इतने विकट रूप में घुला-मिला है कि इसके समाधान की कोई आदर्शवादी, सरलीकृत कोशिश मायूसी को ही जन्म देगी! सवर्ण कही जाने वाली आबादी ही नहीं वरन पिछड़ी कही जाने वाली आबादी जिन्हें फुले ने शूद्र जातियां कहा है (और कई प्रमुख इतिहासकार भी आज यही मानते हैं), आज भी दलित आबादी के प्रति जिस तरह का भेदभाव करती है, जिस तरह अपमानित और उत्पीड़ित करती है उससे यदि आज दलित आबादी के मन में एक भीषण आक्रोश खदबदा रहा है तो यह नितान्त स्वाभाविक है। सदियों से अपमानित-लांछित लोग अगर आज अपनी मानवीय गरिमा, सम्मान और अपनी अस्मिता के लिए आकुल-बेचैन हैं तो इससे अधिक स्वाभाविक और कुछ नहीं हो सकता है। अगर कहीं अपनी गरिमा और सम्मान के प्रति वे अतिसंवेदनशील भी नज़र आते हैं तो यह भी उतना ही स्वाभाविक है। स्थितियां ऐसी ही हैं कि कोई संवेदनशील गैरदलित भी अगर तर्कपरक न हो तो उस तक भी यह अहसास नहीं हो पाता कि उसके किस आचरण या अभिव्यक्ति ने अनजाने ही किसी दलित व्यक्ति को अपमानित कर दिया है। इसलिए, जाति प्रश्न पर दलितों की तथाकथित अतिसंवेदनशीलता को भी तर्कपरक ढंग से समझने और महसूस करने की जरूरत है।

एक विकट सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्न

जाति का प्रश्न एक विकट सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्न के रूप में हमारे बीच मौजूद है। न रंगभेद से इसकी तुलना की जा सकती है और न ही दुनिया के किसी भी हिस्से में मौजूद अन्य किसी भी प्रकार के सामाजिक भेदभाव व उत्पीड़न से। दलित जातियां हमारे सामाजिक ढांचे में एक ही साथ घुली-मिली भी हुई हैं और साथ ही वे भीषण पार्थक्य व अलगाव की शिकार भी हैं। खुले, निरंकुश जाति आधारित उत्पीड़न के साथ-साथ प्रच्छन्न उत्पीड़न व अपमान के इतने रूप मौजूद हैं और इसकी निरन्तरता का इतना लम्बा इतिहास है कि यह भारतीय समाज की एक अनन्य परिघटना बन जाती है। ऐसे में, इसके समाधान के प्रति एक बेहद संजीदा रुख अख्तियार करने की जरूरत है।

लेकिन विडम्बना यह है कि आजकल प्रगतिशील कही जाने वाली जमात के भीतर इस प्रश्न पर एक संवेदनशील संजीदे रुख की जगह सस्ती लुकमेबाजियों और जुमलेबाजियों का चलन खूब चल पड़ा है। कहीं दलित तबके की सामाजिक मुक्ति के प्रति कागजी-सस्ती भावुकतावादी प्रतिबद्धताओं का इजहार हो रहा है तो कहीं बुर्जुआ राजनीति के दायरे में अपनी मजबूत पकड़ बनाने की ट्रिकबाजियों से दलित मुक्ति का सपना साकार किया जा रहा है। न ही संस्कृति के दायरे में सक्रिय नव-आविष्कृत दलित प्रेमियों के पास दलित मुक्ति का कोई प्रोजेक्ट है और न ही दलित राजनीति के अलमबरदारों के पास। सिर्फ भावुक बयान हैं, भोंडा दलित-प्रेम प्रदर्शन है और अवसरवादी राजनीतिक तिकड़में हैं।

जो ईमानदार-संवेदनशील लोग भारतीय समाज से जाति की मानवद्रोही संस्था व जातिगत अपमान-उत्पीड़न के बर्बर-अमानवीय प्रचलनों को जड़मूल से नाश करना चाहते हैं उन्हें संजीदगी से गहराई में जाकर समस्या को समझना होगा और इसके रास्ते के बारे में सोचना होगा। उन्हें एक समग्र प्रोजेक्ट अपने सामने रखकर एक जुझारू सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन निर्मित करने की दिशा में आगे बढ़ना होगा और हर प्रकार के शोषण-उत्पीड़न से समूची भारतीय जनता की मुक्ति के व्यापक लक्ष्य के साथ इसे जोड़ना होगा।

वर्ग और जाति के जटिल अन्तर्सम्बन्ध

जातिगत विभेद के खिलाफ सही और कारगर रणनीति के साथ संघर्ष के लिए जरूरी है कि जाति और वर्ग के जटिल अन्तर्सम्बन्धों की तीक्ष्ण वैज्ञानिक दृष्टि के साथ पड़ताल की जाये। किसी भी तरह का सरलीकृत निष्कर्ष घातक साबित होगा। वर्ग ही जाति है या जाति ही वर्ग है – ये दोनों ही निष्कर्ष भारतीय समाज की आज की सच्चाई से दूर खड़े हैं और सामाजिक बराबरी के लक्ष्य तक कतई नहीं पहुंचायेंगे।

भारतीय इतिहास का एक प्राचीन कालखण्ड ऐसा रहा है जब जाति और वर्ग हूबहू एक ही सामाजिक कोटियां थीं। यह उस कालखण्ड के सरलीकृत उत्पादन सम्बन्ध की जमीन पर खड़ा था। लेकिन आज स्थिति ठीक ऐसी ही नहीं है। पिछली आधी सदी के दौरान देश में पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया ने स्थितियों में काफी बदलाव किया है। आज एक बदलाव साफ तौर पर आया है कि धूर्त और मक्कार नये शासक वर्ग – भारतीय पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवादियों की बौद्धिक-भौतिक मदद से इस तरह की नीतियां लागू की हैं कि दलित जातियों के भीतर से भी एक अत्यन्त छोटा सा उच्च और मध्यम मध्य वर्ग पैदा हुआ है। गांवों में तो यह वर्ग नगण्य है लेकिन आरक्षण सुविधाओं का लाभ उठाकर शहरों में नौकरी-चाकरी और स्वतंत्र पेशों में इस छोटे से दलित मध्य वर्ग की हिस्सेदारी बनी है।

न केवल एक भेदभावमूलक सामाजिक संस्था के रूप में जाति का प्रश्न हमारे समाज में मौजूद है, बल्कि दैनन्दिन आचार- व्यवहार, बोली-भाषा- मुहावरे, मूल्यों-मान्यताओं-संस्कारों आदि के रूप में सामाजिक जीवन में यह इतने बारीक रूप में, गहराई और व्यापकता में, इतने विकट रूप में घुला-मिला है कि इसके समाधान की कोई आदर्शवादी, सरलीकृत कोशिश मायूसी को ही जन्म देगी!

लेकिन दलित आबादी के बहुलांश की ज़िन्दगी का सच आज भी यही है कि वह आर्थिक और सामाजिक दोनों ही रूपों में समाज की सबसे निचली पायदानों पर खड़ा है। हम कह सकते हैं कि भारत में आज भी दलित प्रश्न मुख्यत: भूमि सम्बन्धों से जुड़ा प्रश्न है, यानी इसका सुनिश्चित आर्थिक आधार है। कारण यह कि हमारे देश में भूमि सुधार का काम क्रान्तिकारी ढंग से सम्पन्न नहीं हुआ। यह मन्थर, दुस्सह यंत्रणादायी प्रतिक्रियावादी ढंग से हुआ। पुरानी भूमि व्यवस्था में जो सामन्तों के बन्धुआ थे वही आज भी नये भूस्वामियों के उजरती गुलाम (wage slave) हैं। इन्हीं के बीच से एक बड़ा हिस्सा गांवों से उजड़कर महानगरों की झुग्गी-झोंपड़ियों में रह रहा है तथा मुख्यत: असंगठित, ठेके के मजदूर या दिहाड़ी मजदूर की ज़िन्दगी बसर कर रहा है।

इसके साथ ही हमें इस सच्चाई की भी अनदेखी नहीं करनी होगी कि गैरदलित

मध्यवर्गीय किसान पृष्ठभूमि से भी एक आबादी लगातार अपनी जगह-जमीन से उजड़कर तेजी से उजरत कमाने वाले आधुनिक गुलामों की पांतों में शामिल होती जा रही है। यह सच है कि इस आबादी के भीतर दलित विरोधी विचार; भावनाएं व संस्कार मौजूद हैं, लेकिन अगर सही वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ कारगर क्रान्तिकारी प्रचार और संगठन की कार्रवाइयां संचालित की जायें तो इनके बीच एक व्यापक एकता अवश्य ही कायम की जा सकती है।,

दलित मध्य वर्ग की राजनीति

दलित आबादी के बीच से पैदा हुआ मध्य वर्ग (कुल दलित आबादी का मुश्किल से तीन-चार प्रतिशत भाग) यह महसूस करता है कि दलित प्रश्न का कोई आर्थिक पहलू है ही नहीं, सिर्फ सामाजिक-धार्मिक पहलू है। अपनी स्थिति को पूरी दलित आबादी पर लागू करने की कोशिश यह दलित मध्यवर्ग इसलिए करता है क्योंकि यह चाहता है कि आर्थिक दृष्टि से मध्यवर्ग तक ऊपर उठ आने के बाद उसे गैरदलित जातियों के मध्यवर्ग के लोग सदियों पुराने प्रतिक्रियावादी संस्कारों को छोड़कर सम्मान और बराबरी का दर्जा दें। पर अन्य जातियों की मध्यवर्गीय आबादी (और मजदूर आबादी भी) इस सत्तापोषित दलित मध्य वर्ग को ही सभी दलित जातियों का प्रतिनिधि मानकर इनके प्रति और अधिक दुराव का रुख अख्तियार करती है, जिसका नतीजा दलित मध्य वर्ग के लोगों के बजाय अधिकांशत: भयंकरतम रूप में ग़रीब दलित आबादी को भुगतना पड़ता है। इस तरह न केवल मध्यवर्ग बल्कि ग़रीब आबादी भी आपस में बंट जाती है और पूंजीवादी व्यवस्था को ऐतिहासिक रूप से एक महत्वपूर्ण लाभ मिल जाता है।

लेकिन विडम्बना यह है कि आजंकल प्रगतिशील कही जाने वाली जमात के भीतर इस प्रश्न पर एक संवेदनशील संजीदे रुख की जगह सस्ती लुकमेबाजियों और जुमलेबाजियों का चलन खूब चल पड़ा है। ..... न ही संस्कृति के दायरे में सक्रिय नव-आविष्कृत दलित प्रेमियों के पास दलित मुक्ति का कोई प्रोजेक्ट है और न ही दलित राजनीति के अलमबरदारों के पास। सिर्फ भावुक बयान हैं, भोंडा दलित-प्रेम प्रदर्शन है और अवसरवादी राजनीतिक तिकड़में हैं।

यह सच स्वीकारना ही होगा कि कुछेक अपवादों को छोड़कर दलित मध्यवर्ग और बुद्धिजीवियों की अच्छी-खासी आबादी आज व्यवस्थापोषक और सुविधाभोगी हो चुकी है। यह किसी भी प्रकार के सामाजिक तूफानों से थरथर कांपती है, व्यापक ग़रीब आबादी के दुख-दर्द के प्रति यह संवेदनहीन हो चुकी है और सिर्फ आरक्षण आदि सुविधाओं को बचाने की कोशिश में जुटी इसी व्यवस्था के दायरे में सामाजिक समानता पा लेने का असम्भव स्वप्न देखती रहती है।

बसपा की राजनीति

कांशीराम-मायावती की पार्टी इसी दलित उच्च मध्यवर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली पार्टी है। "दलितों को सत्ता में आने के लिए शैतान से भी सौदा करने में नहीं हिचकना चाहिये" – यह कहकर बहुजन समाज पार्टी चुनावी अवसरवाद की खुली तरफदारी करती है। यह पार्टी भी पूरी तरह उन पूंजीवादी संसदीय पार्टियों की गिरोहबन्दी में शामिल है जिनकी गरीब विरोधी नयी आर्थिक नीतियों पर पूर्ण सहमति है।

यह लफ्फाजी करते हुए कि भारत में मुख्य मुद्दा आर्थिक नहीं सामाजिक-धार्मिक है यह पार्टी उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के विरोध में एक शब्द भी नहीं बोलती । जबकि इन्हीं नीतियों की बदौलत गांवो की जो भारी आबादी अपनी जगह-जमीन से उजड़कर पूंजी की निकृष्टतम कोटि की उजरती गुलामी के लिए मजबूर हो रही है उसमें दलित जातियों का अनुपात सर्वाधिक है।

भूमण्डलीकरण के दौर में देश की जिस पन्द्रह फीसदी आबादी के लिए समृद्धि का स्वर्गलोक बनाया जा रहा है उसका उपभोग कुल दलित आबादी का महज दो प्रतिशत भाग मुश्किल से कर पाएगा। चूंकि यह सुविधाभोगी वर्ग अपने को आम दलित आबादी की नियति से पूरी तरह काटकर साम्राज्यवादी विश्व और भारतीय पूंजीवाद के साथ पूरी तरह नत्थी हो चुका है, इसलिए , इनकी पार्टी – बहुजन समाज पार्टी साम्राज्यवाद और देशी पूंजीवाद के प्रति वफादार पार्टी है।

दलित मुक्ति और अम्बेडकर का नाम लेकर तथा आर्थिक शोषण की अपेक्षा तात्कालिक तौर पर अधिक मारक लगने वाले सामाजिक उत्पीड़न और सदियों की गुलामी के खिलाफ गरमागरम ,हवाई और लोकरंजक फतवे दे-देकर तथा राजनीतिक पटल पर किसी संगठित क्रान्तिकारी विकल्प की नामौजूदगी का लाभ उठाकर बहुजन समाज पार्टी ने ग्रामीण और शहरी दलित गरीब आबादी के बीच अपना एक व्यापक जनाधार तैयार किया है । मिथकों, ऐतिहासिक स्मृतियों के गलत प्रयोग और नायक-पूजा ,मूर्ति-पूजा की तर्क विरोधी, विज्ञान-विरोधी राजनीतिक संस्कृति के प्रचार द्वारा इस पार्टी ने मेहनतकश तबके के दलित हिस्सों की जनवादी चेतना को कुन्द करने में तथा पराजित मानसिकता की जमीन पर फासिस्ट निरंकुशशाही की संस्कृति की स्वीकार्यता को स्थापित करने में अहम भूमिका निभायी है और पूंजीवाद की ऐतिहासिक सेवा की है।

वैसे, सच तो यह भी है कि बहुजन समाज पार्टी पूंजीवादी जनवाद के खेल के नियमों में भी कोई भरोसा नहीं रखती। इसमें कोई चुनाव नहीं होता। सिर्फ मनोनयन होते हैं। 'साहब' और 'बहिनजी' के इशारे ही कानून होते हैं। जिस पार्टी की आन्तरिक संरचना ही इतनी फासिस्ट किस्म की हो वह दलितों को सम्पूर्ण जनवादी राजनीतिक-सामाजिक अधिकार और आर्थिक-सामाजिक समानता दिलाने के कठिन संघर्ष की वास्तविक समर्थक भला कैसे हो सकती है?

एक क्रान्तिकारी प्रोजेक्ट एवं रणनीति की जरूरत

हमारे समाज में जातिगत अपमान-उत्पीड़न की जड़ें जितनी गहरी हैं और एक लम्बे ऐतिहासिक काल से सामाजिक संरचना में इसकी मौजूदगी की निरन्तरता के कारण इसकी जो जटिल-सॉश्लिष्ट प्रकृति है उसे देखते हुए एक बात बिल्कुल साफ है कि किसी सामाजिक सुधार आन्दोलन मात्र से इसे नहीं मिटाया जा सकता। आज दलितों को एक क्रान्ति की जरूरत है – एक सर्वव्यापी जनक्रान्ति जो उनके सामाजिक उत्पीड़न-अपमान की बुनियाद को ही मिटा डाले। एक ऐसी जनक्रान्ति जो मौजूदा आर्थिक-राजनीतिक, सामाजिक-सांस्कृतिक – यानी सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में आमूलगामी बदलाव लेकर आये।

यह भूलना न चाहिए कि आज

भूमण्डलीकरण के दौर में खड़े होकर हमें जाति प्रश्न के समाधान की रणनीति बनानी है। यह प्रश्न आज उसी रूप में हमारे सामने नहीं मौजूद है, जिस रूप में यह इतिहास के मध्यकाल में मौजूद था या राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में मौजूद था या 1947 में भारतीय पूंजीपति वर्ग के हाथ में सत्ता हस्तान्तरण के समय मौजूद था। विगत आधी सदी के दौरान आर्थिक सामाजिक विकास ने जो जटिलताएं पैदा की हैं उनकी अनदेखी कतई नहीं की जा सकती। आज भूमण्डलीकरण के दौर में – देशी-विदेशी पूंजी की नग्न-निरंकुश लूट के दौर में जो नया सामाजिक ध्रुवीकरण उभर रहा है उसके मद्देनजर ही हमें ठोस रणनीति बनानी होगी।

आज दलित मुक्ति का प्रश्न साम्राज्यवाद-पूंजीवाद विरोधी नयी जनक्रान्ति के समग्र क्रान्तिकारी प्रोजेक्ट का अंग ही हो सकता है। एक अर्थ में यह जनक्रान्ति दलित क्रान्ति ही होगी। कारण कि क्रान्ति जनता करती है और देश की समूची शोषित-उत्पीड़ित आबादी की संख्या की गणना की जाये तो इसमें दलित आबादी ही बहुसंख्या में है। इस समूची दलित आबादी को इस जनक्रान्ति की मुख्य शक्ति के रूप में संगठित करना आज दलित मुक्ति के प्रोजेक्ट का प्रमुख कार्यभार होना चाहिए।

लेकिन, इसके साथ ही इस जनक्रान्ति का यह भी एक बुनियादी कार्यभार है कि जाति के सामाजिक प्रश्न पर भी आन्दोलन एवं क्रान्तिकारी प्रचार की व्यापक रणनीति पर अमल किया जाये। दूसरे शब्दों में, आर्थिक-राजनीतिक मुद्दों पर संघर्ष के साथ ही एक जुझारू सामाजिक सांस्कृतिक आन्दोलन तैयार किया जाये। पहले आर्थिक या पहले सामाजिक – इन दो छोरों की एकांगी, यांत्रिक सोच से बचते हुए सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन को भी आर्थिक-राजनीतिक संघर्षों जैसा बुनियादी कार्यभार मानकर आगे बढ़ना होगा। बेशक, जब तक देश का मेहनतकश अवाम क्रान्तिकारी संघर्षों के जरिये आगे बढ़कर राजनीतिक सत्ता पर कब्जा नहीं कर लेता तब तक राजनीतिक आन्दोलन ही प्रमुख कार्यभार रहेगा। लेकिन एक क्रान्तिकारी सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन के बिना प्रतिक्रियावादी, निम्नपूंजीवादी अराजकतावादी दलित राजनीति की जमीन नहीं तोड़ी जा सकती और न ही दलित-गैरदलित मेहनतकश अवाम की संग्रामी एकजुटता कायम करके उस पूंजीवादी व्यवस्था के नाश का आधार तैयार किया जा सकता है जो आज अपने हित में, पुरानी व्यवस्थाओं से विरासत के तौर पर अर्जित दलित-प्रश्न और जाति के प्रश्न को जीवित रखे हुए है।

यह बात भी यहां बिल्कुल साफ हो जानी चाहिए कि साम्राज्यवाद-पूंजीवाद विरोधी जनक्रान्ति (जो उस अर्थ में दलित क्रान्ति ही होगी, जैसा ऊपर वर्णित है) के बाद नयी व्यवस्था कायम होते ही जाति का प्रश्न रातों रात हल नहीं हो जायेगा। एक तो नयी व्यवस्था, जैसा कि भगतसिंह का सपना था, उत्पादन, राजकाज और समाज के सम्पूर्ण ढांचे पर मेहनतकश अवाम के नियंत्रण वाली व्यवस्था एक कठिन संक्रमण काल से होकर गुजरेगी। इस संक्रमण काल में एक तो मौजूदा पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली भी रातों रात समाप्त नहीं हो सकती, जो जाति व्यवस्था की मौजूदगी का आधार बनी रहेगी और दूसरे पुराने समाज की पुरानी आदतों, मूल्यों-मान्यताओं के विरुद्ध लम्बे समय तक संघर्षों के बाद ही उन्हें समाप्त किया जा सकेगा। कह सकते हैं कि क्रान्ति के बाद प्रचण्ड सांस्कृतिक क्रान्तियों की आवश्यकता होगी। यह कहना शायद अतिश्योक्ति न होगी कि दलित प्रश्न, स्त्री प्रश्न और ऐसे ही अन्य सामाजिक प्रश्नों के सम्पूर्ण समाधान के लिए भारत में एक-दो नहीं कई सांस्कृतिक क्रान्तियों की आवश्यकता होगी।

समाज के आत्मिक-सांस्कृतिक जीवन में जबर्दस्त हलचल पैदा करने की जरूरत

जनक्रान्ति के समग्र प्रोजेक्ट के अंग के रूप में एक जुझारू सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन आज समय की मांग है। दरअसल, अतीत में मुड़कर देखें तो यह सिरा भक्ति आन्दोलन के दौर में छूट गया सा लगता है। उस दौर में राजाओं-सामन्तों-जमींदारों के बर्बर शोषण-उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष के साथ ही विकट सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन भी हमें दिखता है। कबीर, नानक, रैदास, पलटू, दादू आदि ने सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्नों पर अपने युग की सीमाओं के भीतर प्रचण्ड संघर्ष किया। इनमें से कुछेक की रुझान एक हद तक सुधारवादी हो सकती है लेकिन उन्होंने भेदभावमूलक सामाजिक संस्थाओं, रुढ़ियों, मूल्यों-मान्यताओं को साहसपूर्ण ढंग से सीधी चुनौती दी। इस सन्दर्भ में हमें सतनामियों के विद्रोह को भी नहीं भूलना चाहिए। इन्होंने पूरे समाज में एक जबर्दस्त हलचल मचा दी थी।

दूसरी ओर, हम यह देखते हैं कि औपनिवेशिक गुलामी के काल में जो समाज सुधार आन्दोलन हुए वे व्यापक आबादी में उतनी हलचल नहीं मचा सके। इसके समाज सुधार आन्दोलन मध्यवर्ग को छूते हुए निकल जाते थे और व्यापक मजदूर-किसान आबादी तक तो ये पहुंच ही नहीं पाते थे। मध्य वर्ग की आबादी के भी आत्मिक-सांस्कृतिक जगत ये हलचल नहीं मचाते थे। इसलिए, आज हमें जरूरत इस बात की है कि हम भक्तिकाल के उस धर्मसुधार आन्दोलन, जो अपने युग की सीमाओं में एक क्रान्तिकारी सामाजिक आन्दोलन था, के छूटे हुए सिरे को पकड़ें, जिसे औपनिवेशिक काल के समाज सुधार आन्दोलन नहीं पकड़ सके।

यहां एक बार यह दुहरा देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि फिर भी आज दलितों को सबसे अधिक जरूरत एक राज्य क्रान्ति की है। दलित मध्य वर्ग और बुद्धिजीवियों का जो हिस्सा आज ईमानदारी के साथ दलित मुक्ति के सवालों से जूझ रहा है उन्हें इस कड़वे सच को अंगीकार करना ही होगा कि उनके जिन रहनुमाओं ने दलित मुक्ति के सवाल को सिर्फ कानूनी-संवैधानिक दायरों में ही सीमित करके देखा, उनकी नीयत चाहे जितनी अच्छी रही हो और एक हद तक उन्होंने आन्दोलन आगे बढ़ाया भी हो, लेकिन ऐतिहासिक तौर पर

यह सच स्वीकारना ही होगा कि कुछेक अपवादों को छोड़कर दलित मध्यवर्ग और बुद्धिजीवियों की अच्छी-खासी आबादी आज व्यवस्थापोषक और सुविधाभोगी हो चुकी है। यह किसी भी प्रकार के सामाजिक तूफानों से थरथर कांपती है, व्यापक ग़रीब आबादी के दुख-दर्द के प्रति यह संवेदनहीन हो चुकी है और सिर्फ आरक्षण आदि सुविधाओं को बचाने की कोशिश में जुटी इसी व्यवस्था के दायरे में सामाजिक समानता पा लेने का असम्भव स्वप्न देखती रहती है।

उनकी भूमिका नकारात्मक ही मानी जायेगी।

ये प्रश्न चाहे जितने असुविधाजनक लगें लेकिन तमाम ईमानदार दलित बुद्धिजीवियों को खुले दिमाग से और सही वैज्ञानिक नजरिये को आत्मसात करते हुए रिपब्लिकन पार्टी, पेरियार के आन्दोलन, दलित पैंथर आन्दोलन की परिणतियों का सम्यक विश्लेषण भी करना ही होगा। डा. अम्बेडकर की राजनीति का झंडा ढोने वाली रिपब्लिकन पार्टी का खंड-खंड में विघटित होना और इसके कुछ हिस्सों को बड़ी पूंजीवादी राजनीतिक पार्टियों द्वारा गोद ले लेना क्या बताता है? तमिलनाडु में परियार के सामाजिक आन्दोलन से जन्मी द्रमुक और अद्रमुक जैसी पार्टियों के दलित जातियों के बीच से पैदा हुए मध्यवर्ग को धन और सत्ता की बन्दरबांट में हिस्सा दिलाने के बाद खांटी क्षेत्रीय पूंजीवादी पार्टियों के रूप में स्थापित हो जाने से क्या निष्कर्ष निकलते हैं? महाराष्ट्र से उठा दलित पैंथर आन्दोलन मध्यवर्गीय दलित युवाओं के मध्यमवर्गीय उग्र आक्रोश की सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति से आगे क्यों नहीं जा सका?

युवाओं को विद्रोह का झंडा उठाना होगा

हर परिवर्तनकामी आन्दोलन की तरह जातिगत उत्पीड़न एवं अपमान के खिलाफ सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन में युवाओं को ही सबसे पहले आगे आना होगा और उन्हें इसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लेना होगा। उन्हें अपने आचरण से समाज में नजीरें पेश करनी होंगी। सवर्ण या पिछड़ी कही जाने वाली जातियों से आने वाले वे नौजवान, जो संवेदनशील हैं और जातिगत श्रेष्ठताबोध के विचारों-भावनाओं, मूल्यों-मान्यताओं, आदर्तों-संस्कारों से गहरी नफ़रत करते हैं उन्हें आगे-आगे आकर इसके खिलाफ बगावत का झंडा बुलन्द करना होगा।

हमें राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर के विद्रोही लोगों की विरासत से खुद को जोड़ना होगा। राहुल सांकृत्यायन, रामावतार शास्त्री, राधामोहन गोकुल जी, नजरुल इस्लाम, सत्यभक्त और उन अनेक क्रान्तिकारी राजनीतिक कार्यकर्ताओं से प्रेरणा लेनी होगी जिन्होंने अपनी कथनी और करनी, दोनों से मानवता को अपमानित करने वाली सामाजिक संस्थाओं, जाति की संस्था जिसमें प्रमुख थी, रुढ़ियों आदि के खिलाफ बगावत का झंडा बुलन्द किया और अपने समय में समाज के सामने उदाहरण प्रस्तुत किये। राहुल सांकृत्यायन ने तो कहा भी है कि लोग रुढ़ियों को इसलिए मानते हैं क्योंकि उनके सामने रुढ़ियों को तोड़ने के पर्याप्त उदाहरण नहीं मौजूद हैं।

राजनीतिक-सांस्कृतिक मोर्चे के संगठनकर्ताओं-कार्यकर्ताओं को तो अपने पारिवारिक, सामाजिक, निजी जीवन एवं व्यवहार में अपने निजी आचरण से यह सिद्ध करना होगा कि वे स्वयं जातिगत पूर्वाग्रहों एवं संस्कारों से मुक्त हैं। क्रान्तिकारी संगठनों को भी ऐसी कठोर आचार संहिताएं बनानी चाहिए और अगुआ संगठनकर्ताओं को इन्हें व्यवहार में उतारना चाहिए। क्रान्तिकारी युवाओं को समाज को यह विश्वास तो दिलाना ही होगा कि उनकी कथनी और करनी में कोई भेद नहीं है।

हर परिवर्तनकामी आन्दोलन की तरह जातिगत उत्पीड़न एवं अपमान के खिलाफ सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन में युवाओं को ही सबसे पहले आगे आना होगा और उन्हें इसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लेना होगा। उन्हें अपने आचरण से समाज में नजीरें पेश करनी होंगी। ..... इसके खिलाफ बगावत का झंडा बुलन्द करना होगा।

इसके साथ ही क्रान्तिकारी युवाओं को व्यापक समाज में, और आम युवाओं के बीच उनके संकीर्ण, मानवताविरोधी जातिगत पूर्वाग्रहों-संस्कारों से पीछा छुड़ाने और सच्चा इंसान बनने के लिए धिक्कारना होगा, ललकारना होगा। मेहनतकश आबादी के बीच भी क्रान्तिकारी प्रचार करते हुए यह समझाना होगा कि ग़रीबों-शोषितों की कोई जाति नहीं होती और अगर वे अपने जातिगत पूर्वाग्रहों-संस्कारों से चिपके रहेंगे तो उनकी मुक्ति असम्भव है।

क्या उन नौजवानों को सच्चे अर्थों में नौजवान कहा जा सकता है जो सामाजिक जीवन की बात तो दूर अपने व्यक्तिगत जीवन तक में मानवतावादी जनवादी अधिकारों के लिए बगावत नहीं कर सकते। हमारे नग्न-निरंकुश सामाजिक ढांचे की देन के रूप में पारिवारिक ढांचे में भी तरह-तरह के सामन्ती, अतर्कपरक, गैरजनवादी लोकाचार मौजूद हैं जिन्हें साहसपूर्वक तोड़ने के लिए आगे आना नौजवानों का कर्तव्य है। पारिवारिक ढांचे में प्रगतिविरोधी पुराने मूल्यों की जकड़न इतनी जबर्दस्त है कि कोई युवा सहज मानवीय प्रेम के लिए भी आज़ाद नहीं है। हमारे जैसे समाज में जहां पुराने रीति-रिवाजों, परम्पराओं की जकड़न इतनी भीषण हो, तो वहां सामाजिक समानता के लिए संघर्ष के साथ ही प्रेम करना भी एक शानदार बगावत बन जाती है।

घोषणा पत्र: प्रपत्र-1

पत्रिका का नाम	- आह्वान कैम्पस टाइम्स
आवर्तिता	- त्रैमासिक
भाषा	- हिन्दी
प्रकाशन स्थान	- गोरखपुर
प्रकाशक/स्वामी का नाम	- आदेश सिंह
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- 'संस्कृति कुटीर' कल्याणपुर, गोरखपुर
मुद्रक का नाम	- आदेश सिंह
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- 'संस्कृति कुटीर' कल्याणपुर, गोरखपुर
सम्पादक का नाम	- अभिनव
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- 'संस्कृति कुटीर' कल्याणपुर, गोरखपुर
मुद्रणालय का नाम	- आफसेट प्रेस इलाहीबाग, गोरखपुर

मैं आदेश सिंह, यह घोषणा करता हूं कि उपर्युक्त तथ्य मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार सत्य है।

हस्ताक्षर
आदेश सिंह
(प्रकाशक/मुद्रक/स्वामी)